

सिर्फ मेरिट की बात करने से बात नहीं बनेगी

अमन मदान के साथ बातचीत

‘मेरिट’ शब्द का आजकल कुछ ज़्यादा ही इस्तेमाल किया जाने लगा है और इसको एक अलग दर्जा मिल गया है। इस साक्षात्कार में अमन मदान अपने समाजशास्त्रीय तर्कों के माध्यम से मेरिट के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं और मेरिटोक्रेसी के मिथक पर सवाल उठाते हैं। डेटा के आधार पर उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि मेरिट असल में भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत, वर्गीय और जेंडर आधारित असमानताओं के साथ गहरे तौर पर जुड़ी हुई है। अगर इसी शब्द को उलट दें तो उनके तर्क में एक मेरिट यानी दम दिखाई देता है!

? **विवेक वेलांकी:** हमारे देश में आरक्षण और मेरिट को लेकर आजकल काफी गहमागहमी है। मध्यमवर्ग और जनसंचार माध्यमों में मेरिट को एक ऐसे ‘पावन सिद्धान्त’ का दर्जा दे दिया गया है जिसकी हर सूरत में उपासना की जाती है; एक ऐसी चीज़ जो अपने आप में पावन है और उस पर सवाल नहीं उठाया जा सकता। मगर आपका कहना है कि हमें इस सवाल पर ज़्यादा आलोचनात्मक ढंग से भी सोचना चाहिए। आपके हिसाब से यह इतनी महत्वपूर्ण बात क्यों है?

अमन मदान: सबसे पहले मैं यह कहना चाहता हूँ कि मेरिट को संजीदगी से लेना बहुत ज़रूरी है। हमारे यहाँ इतने सारे लोग इसे इतना ज़्यादा महत्व देते हैं, यह हमारे मौजूदा समाज के बारे में काफी कुछ कह जाता है। यह एक समाज है जो जन्म से हमारी उपलब्धि या सफलताओं पर ज़्यादा ज़ोर देता है। यह समाज व्यक्तिगत परिश्रम, व्यक्तिगत चेष्टा पर ज़ोर देता है। मगर पीछे लौटकर मेरिट को एक अलग दृष्टि से देखना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि हमारे यहाँ जिस मेरिट की वकालत की जा रही है, वह केवल व्यक्तिगत परिश्रम से हासिल नहीं होती। व्यवहार के धरातल पर हम देखते हैं कि हमारे इतिहास का एक बहुत बड़ा हिस्सा – यानी हमारे परिवार की पृष्ठभूमि क्या है, वह किन स्थितियों से जुड़ा रहा है और किन अन्यायों का सामना कर रहा है – मेरिट की परिभाषा को बहुत गम्भीर रूप से प्रभावित करता है। हम मेरिट की धारणा को पूरा महत्व तो देते हैं, मगर हमें इसके

यथार्थ को भी देखना चाहिए। हम एक ऐसा समाज बनाना चाहते हैं जो मूल रूप से मेरिट पर आधारित हो मगर व्यवहार के धरातल पर हम अभी उस स्थिति में नहीं पहुँचे हैं।

? **विवेक वेलांकी:** आपने भारत और दुनिया भर में मेरिटोक्रेसी के उदय का भी अध्ययन किया है। यह तुलनात्मक रूप से नई अवधारणा है। आप लिखते हैं कि यह एक ऐसी व्यवस्था से पैदा होती है जिसमें अवसर और संसाधन ऐतिहासिक रूप से इस आधार पर निर्धारित होते रहे हैं कि आप कहाँ पैदा हुए हैं। क्या आप इस बारे में और रोशनी डालना चाहेंगे?

अमन मदान: तुलनात्मक रूप से कुछ ही समय पहले तक दुनिया के ज्यादातर भागों में एक ऐसी व्यवस्था हावी रही है जिसमें व्यक्ति के परिवार की पृष्ठभूमि इस बात को बहुत गहरे तौर पर प्रभावित करती थी कि हम क्या करेंगे। लिहाज़ा, अगर आप किसी जौहरी के घर में पैदा हुए हैं तो सम्भावना यही है कि आप भी जौहरी का ही व्यवसाय करेंगे। अगर आप किसी किसान परिवार में पैदा हुए हैं तो सम्भवतः आप किसान ही बनेंगे। मगर धीरे-धीरे और बड़े कष्टपूर्ण ढंग से हम एक ऐसे समाज में तब्दील होते जा रहे हैं जहाँ केवल आपका परिवार ही यह तय नहीं कर सकता



कि मैं क्या बन सकता हूँ, मैं क्या कामना कर सकता हूँ या किन चीज़ों को अच्छा अथवा बुरा मान सकता हूँ। हम धीरे-धीरे पुरानी व्यवस्था से तो दूर जा रहे हैं, मगर इस प्रक्रिया में बहुत सारी समस्याएँ हैं। इन समस्याओं में, मिसाल के तौर पर, एक समस्या यह है कि इस देश में कितने रोज़गार हैं जो मेरिट के आधार पर उपलब्ध हैं। वास्तव में ऐसी नौकरियों की संख्या बहुत ही कम है। हम जिन नौकरियों की दिन-रात दुहाई देते हैं, वे प्रतिस्पर्धी परिक्षाओं के ज़रिए हासिल होती हैं। इन्हें व्हाइट कॉलर या अभिजात्य रोज़गार कहा जा सकता है। हमारे देश में ऐसी नौकरियों की संख्या कुल रोज़गारों में 20 प्रतिशत से ज़्यादा नहीं होगी। आप देख सकते हैं कि यह कितनी छोटी संख्या है। ज़्यादातर लोगों को दूसरे काम करने पड़ते हैं और वे दूसरे काम मुख्य रूप से परिवार के सम्बन्धों और जान-पहचान से हासिल होते हैं।

दूसरी तरफ, जब हम इस बारे में विचार करते हैं कि ये नौकरियाँ किन लोगों को मिलती हैं, कि हमारी शिक्षा व्यवस्था कैसे काम करती है और कैसे वह कुछ लोगों को खास तरह की नौकरियों में पहुँचा देती है, तो पता चलता है कि इसमें सामाजिक रूप से रची गई बेहद असमानता आधारित प्रक्रियाएँ बहुत अहम भूमिका निभा रही हैं। अगर आप किसी मध्यवर्गीय नौकरीपेशा परिवार में पैदा हुए हैं तो आपके जीवन में आगे बढ़ने की सम्भावनाएँ किसी ऐसे व्यक्ति के मुकाबले बहुत भिन्न होंगी जो ग्रामीण किसान श्रमिक के परिवार में पैदा हुआ है। जब हम इन पहलुओं को समझना शुरू कर देते हैं तो यह बात साफ होने लगती है कि केवल मेरिट की बात करने से पूरी बात स्पष्ट नहीं होगी।

जब मेरिट की बात की जाती है तो हम मानकर चलते हैं कि हम व्यक्तिगत प्रयास के बारे में बात कर रहे हैं। मगर सवाल यह है कि हमारे प्रयास किस हद तक वाकई व्यक्तिगत चेष्टाओं पर आधारित हैं और किस हद तक हमारी सामाजिक पृष्ठभूमि से तय होते हैं। हमें इस बारे में सचेत रहना चाहिए। हमें एक ऐसी स्थिति की ओर बढ़ना है जहाँ मिलने वाले पुरस्कार और प्रेरणाएँ समाज में हमारी सहभागिता के एवज में हों। ये पुरस्कार अपने आप में कुछ नहीं होते। आम तौर पर वे इस बात को दर्शाते हैं कि समाज में किस तरह के व्यवहारों को प्रोत्साहित किया जाता है। यह प्रोत्साहन इस बात पर आधारित नहीं होना चाहिए कि आप किस परिवार में पैदा हुए हैं बल्कि आपकी व्यक्तिगत क्षमताओं पर आधारित होना चाहिए; या इस आधार पर कि आप कितने सक्षम हैं, अपने प्रयासों, अपनी व्यक्तिगत क्षमताओं से आप क्या कर सकते हैं।

? **विवेक वेलांकी:** हमारे देश में मेरिटोक्रेसी के पीछे जाति सबसे निर्णायक तत्व रही है। जाति एक मुख्य आधार है जो लोगों को या तो विभिन्न अवसर प्रदान करती है या उनका निषेध करती है। हमारे देश में यह अवधारणा कितनी पुरानी है और हमारे लिए इसका क्या महत्व है?

अमन मदान: हमारे यहाँ इस बारे में एक मिश्रित समझदारी रही है कि यह समाज पुरस्कारों का वितरण किस तरह करता है और खास तरह के कामों के लिए लोगों का चयन कैसे किया जाता है। इसमें परिवार, जाति और क्षमता, सभी का मिश्रण अपनी भूमिका अदा करता रहा है। उदाहरण के लिए, अगर किसी राजा को सेनापति का चुनाव करना हो तो इस चुनाव में उम्मीदवारों के परिवार की पृष्ठभूमि और क्षमता, दोनों का महत्व होता है। इस व्यवस्था के तहत हमारे यहाँ इस बात पर औपचारिक आग्रह कभी नहीं रहा कि केवल मेरिट या क्षमता को ही गिना जाना चाहिए। मध्यकाल से लेकर अभी तक हमारे पास असंख्य दस्तावेज़ हैं जो हमें बताते हैं कि राजे-रजवाड़े लोगों को अलग-अलग पदों पर किस तरह नियुक्त करते थे। यहाँ तक कि औपचारिक तौर पर भी बहुधा यह मान लिया जाता था कि किसी खास पद के लिए किसी खास समुदाय के व्यक्तियों को ही चुना जाएगा। एक प्रकार से यह समाज में सीमाएँ तय करने की परम्परा थी।

एक औपचारिक व्यवस्था में हम खुद को इस व्यवस्था से दूर जाते हुए देखते हैं। इस प्रसंग में एक बड़ा बदलाव तब आता है जब अँग्रेज़ यहाँ दाखिल होते हैं। यह गौर करने की बात है कि अँग्रेज़ों के यहाँ भी आंशिक रूप से सीमाबन्दी की ऐसी ही व्यवस्था प्रचलित थी। दूसरी तरफ उनके यहाँ आंशिक खुलेपन की व्यवस्था भी थी। वे एक के बाद एक कई राजनीतिक और सामाजिक क्रान्तियों से गुज़रते हुए जब उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत में मज़बूती से दाखिल हुए, तब वे एक हद तक विकसित समाज की ख्याति प्राप्त कर चुके थे, और लिहाज़ा वहाँ खुलेपन के प्रति एक खास तरह की प्रतिबद्धता दिखाई देने लगी थी। यह एक मिली-जुली कहानी है। भारत में वे पूरी तरह खुलेपन को बढ़ावा नहीं देते, बल्कि एक ऐसी स्कूली व्यवस्था विकसित करते हैं जो समस्यामूलक होने के बावजूद अब तक की शिक्षा के मुकाबले कहीं ज़्यादा खुलेपन पर आधारित थी।

? **विवेक वेलांकी:** मगर उन्नीसवीं शताब्दी के आखिर तक भी, उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र में ज्योतिराव फुले और सावित्रीबाई फुले के संघर्ष मौजूद थे जो समाज में ज़्यादा व्यापक पहुँच के लिए संघर्ष कर रहे थे।

अमन मदान: हाँ, यह सही बात है।

? **विवेक वेलांकी:** मेरिट बहुत पुराना विचार नहीं है। इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि धरातल पर स्वीकार्यता के लिहाज़ से इस अवधारणा का इतिहास 100 साल से ज़्यादा पुराना नहीं है।

अमन मदान: मैं अक्सर सोचता हूँ कि इस अवधारणा के इतिहास को कोई तारीख दी जा सकती है या इसका कोई काल निर्धारण किया जा सकता है या नहीं। फिर भी, यह एक ऐसा विचार है जो क्रमिक ढंग से बढ़ता रहा है। अतीत में, अन्य कई मौकों पर भी हमें इसके अंश दिखाई देते हैं, मगर आम तौर पर यह स्थिति खास समुदायों तक ही सीमित रहती थी। उदाहरण के लिए, जाटों में यह फैसला व्यक्ति की खासियतों, उसके परिवार और उसकी क्षमताओं पर निर्भर करता था कि समुदाय का नेता कौन होगा। मगर एक व्यापक सामाजिक सिद्धान्त के तौर पर यह अवधारणा धीरे-धीरे विकसित होती रही है।

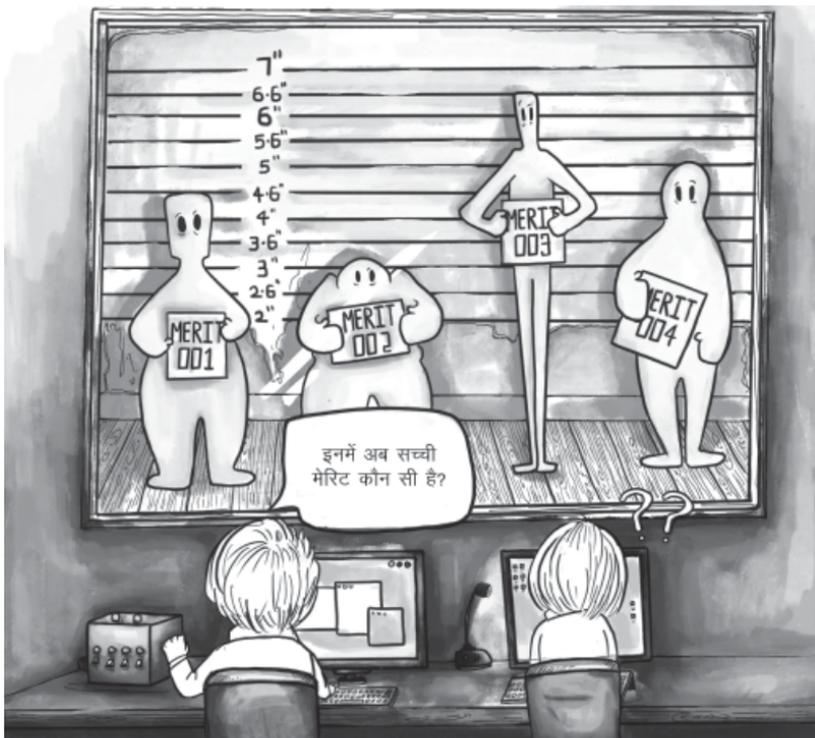
? **विवेक वेलांकी:** मेरिटोक्रेसी इस धारणा पर आधारित है कि समाज में अवसरों की समानता होगी और ये अवसर जन्म पर आधारित नहीं होंगे। समाजशास्त्रियों ने इस धारणा का काफी आलोचनात्मक विश्लेषण किया है। बहुत सारे अध्ययनों में इस बात पर गौर किया गया है कि मेरिट को किस तरह वैधता दी जाती है और यह क्या भूमिका निभाती है। क्या आप ऐसे अध्ययनों के बारे में हमें कुछ बताएँगे जो इस विचार का विश्लेषण करते हैं?

अमन मदान: समाज में अलग-अलग भूमिकाओं में लोगों के खपने की सम्भावनाओं के बारे में एक खुला रवैया अपनाने के फायदों से कोई इनकार नहीं कर सकता। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के पक्ष में भी एक तर्क यही है कि इससे पूरे समाज को लाभ होता है; यह थोड़े-से लोगों की प्रतिभा के स्थान पर कहीं ज़्यादा लोगों को प्रतिभा-सम्पन्न बना देती है। इसके फलस्वरूप, हम ऊपरी स्तरों पर कुछ खास समूहों के लोगों की हिमायत करने की बजाय किसी भी समूह के लोगों की ऊपरी पदों पर आने की सम्भावना के प्रति खुला दृष्टिकोण अपनाने लगते हैं। लिहाज़ा, जो समाज थोड़ा-सा भी परतबद्ध है, उसे भूमिकाओं के आवंटन व निर्धारण की प्रक्रियाओं को अपनाना पड़ता है और भूमिकाओं के आवंटन की इन्हीं प्रक्रियाओं को हम आम तौर पर मेरिट कहते हैं। यहाँ बड़ा सवाल यह है : क्या भूमिकाओं को बाँटने की ये प्रक्रियाएँ वाकई निष्पक्ष और तटस्थ हैं? क्या वे सही हैं? लगभग हर समाज में मेरिट का आंशिक बोध ज़रूर होता है। मगर क्या वह मेरिट का सही आशय होता है?

एक छोटा-सा उदाहरण लीजिए : हो सकता है कि हम ऐसे समाज में रहते

हों जहाँ मध्यम और ऊपरी जनसंख्या के बीच भारी सामाजिक असमानता हो, या सबसे निचले और सबसे ऊपरी तबकों के बीच भारी असमानता हो। ऐसे में कोई भी व्यक्ति जो शिखर पर पहुँचना चाहता है, उसे बहुत कठिन परिश्रम करना होगा, बेहद 'प्रतिस्पर्धी' रवैया अपनाना होगा। या यँ कहिए कि उस व्यक्ति को यह सुनिश्चित करना होगा कि वह औरों से बहुत ज़्यादा बेहतर हो, दूसरों को अपने पास न पहुँचने दे या सामूहिक रूप से काम न करे या दूसरों के साथ साझेदारी में काम न करे ताकि औरों से अपना व्यक्तिगत फर्क और श्रेष्ठता बनाए रखने में कामयाब हो सके। इसका एक मतलब यह भी है कि ऐसे समाज में शिखर तक पहुँचने के लिए लोगों को ज़्यादा शोषणपरक और वर्चस्वशाली रवैया अपनाना होगा।

यह मेरिट का एक बोध है। मगर यह मेरिट का एकमात्र बोध नहीं है। मेरिट का वास्तविक अर्थ इस पर निर्भर करता है कि हम किस तरह का समाज बनाना चाहते हैं। हो सकता है कि हम ऐसा समाज रचना चाहते हों जो



इस बात पर विश्वास न रखता हो कि समाज के केवल एक प्रतिशत लोग ही शिखर तक पहुँच सकें, बल्कि जो समाज में सम्पत्ति व प्रतिष्ठा के ज़्यादा निष्पक्ष और व्यापक वितरण का हिमायती हो। इस तरह के समाज में मेरिट का क्या मतलब होगा, यह पहले वाले समाज में मेरिट के प्रचलित अर्थ से बहुत भिन्न होगा। कुछ लोग कहेंगे कि मेरे समाज में मेरिट का जो भी मतलब हो, उसका मैं बचाव करूँगा। मिसाल के तौर पर, मैं यह कह सकता हूँ कि मेरी स्कूल-व्यवस्था में मुझसे यह समझने की अपेक्षा नहीं की जाती कि मैं क्या पढ़ रहा हूँ बल्कि मुझे सब चीज़ों को रट लेने की और इम्तहान की अपेक्षा की जाती है, और यही मेरी मेरिट का सबूत है। दूसरे लोग इसे खारिज कर देंगे और कहेंगे : भला इसमें मेरिट वाली क्या बात है? हम चाहे जिस किस्म के भी लोग तैयार कर रहे हों, वह हमारी परीक्षा व्यवस्था ही तय करती है कि कौन-सा व्यक्ति मेरिट-सम्पन्न है और कौन-सा नहीं है। ज़्यादा मेरिट-सम्पन्न व्यक्ति वह भी हो सकता है जो कहे कि “मैं चीज़ों को रटूँगा नहीं बल्कि मैं उनको समझने की कोशिश करूँगा।” इस प्रकार, हर समाज के पास मेरिट का एक खास अर्थ होता है मगर फिलहाल हमें एक कदम पीछे हटकर एक नैतिक सवाल उठाना होगा - हम किस तरह की मेरिट का समर्थन करना चाहते हैं?

बहुत सारे लोग हैं जो आम तौर पर किसी भी तरह की मेरिट को सही ठहराने लगते हैं। साथ ही, ऐसे भी लोग हैं जो किसी खास तरह की मेरिट के ही समर्थक हैं और अन्य प्रकार की मेरिट के आलोचक हैं। उदाहरण के लिए, हो सकता है कि मैं ऐसी स्कूली संस्कृति के विरुद्ध हूँ जो कहती है कि प्रतिस्पर्धा में सफल होना और शिखर पर पहुँचना ही सब कुछ है। दूसरी तरफ कोई व्यक्ति यह भी कह सकता है कि मेरे लिए वही स्कूली संस्कृति ज़्यादा अच्छी होती है जहाँ श्रेष्ठ व्यक्ति होना ज़्यादा महत्वपूर्ण है, मगर श्रेष्ठता का अर्थ यह हो कि हम अच्छे मनुष्य बनें, ऐसे व्यक्ति बनें जो दूसरों की फिक्र करते हों, जो दूसरों के साथ काम करते हों और सामूहिक श्रेष्ठता में विश्वास रखते हों। ये दो अवधारणाएँ बिलकुल अलग-अलग संस्कृतियों और बहुत अलग किस्म के समाजों को जन्म देंगी। हम किस तरह की मेरिट को बढ़ावा देना चाहते हैं, यह चुनने में यही समस्या सामने आती है कि हम किस तरह की संस्कृति और समाज चाहते हैं।

? **विवेक वेलांकी:** मेरिट को उसकी पेचीदगी में देखने की यह समझ समाजशास्त्रीय अध्ययनों से पैदा हुई है। क्या ऐसे समाजशास्त्रीय अध्ययन भी हुए हैं जो इन भेदों और पेचीदगियों को भारतीय सन्दर्भ में देखते हों?

अमन मदान: इन चीज़ों के बारे में आपको कई भारतीय समाज वैज्ञानिक



बात करते हुए दिखाई देंगे। उदाहरण के लिए, तत्काल मुझे पद्मा वेलासकर का काम याद आ रहा है। उन्होंने एक बहुत बढ़िया पर्चा लिखा है जो इस बात को सामने लाता है कि किस तरह परम्परागत स्कूल लगभग मनमाने ढंग से चलते हैं। उनकी रूपरेखा ही लगभग ऐसी है कि वे मध्यवर्गीय और उच्चजातीय बच्चों की जीवन शैली को केन्द्र में रखकर चलाए जा रहे हैं। पद्मा वेलासकर का यही कहना है। उनके मुताबिक, यह मनमानी संरचना हमारी सामाजिक सत्ता की अभिव्यक्ति है, यह ग्रामीण पृष्ठभूमि और अन्य जातियों के बच्चों के लिए उस व्यवस्था में खपना बहुत मुश्किल बना देती है क्योंकि उसमें इसे ही स्कूल चलाने का सबसे अच्छा तरीका मान लिया गया है। ऐसे बच्चों को जल्दी ही पता चल जाता है कि येनकेन प्रकारेण उन्हें हाशिये पर छोड़ दिया जाएगा। इसलिए नहीं कि यह एक बेहतर व्यवस्था है बल्कि इसलिए क्योंकि यह कुछ खास समूहों की सुविधा को ध्यान में रखकर ही बनाई गई है।

अविजीत पाठक का काम भी महत्वपूर्ण है। वे इस पर सवाल उठाते हैं कि हम अपनी शिक्षा में आगे बढ़ने के लिए एक उपभोक्तावादी जीवन की आकांक्षाओं को ही प्रेरक वस्तु के रूप में पेश क्यों करते हैं। वे सवाल उठाते

हैं : क्या हम अपने युवाओं को सचमुच इसी तरह का जीवन जीते हुए देखना चाहते हैं? क्या हम वयस्कों से ठीक इसी तरह की ज़िन्दगी की उम्मीद रखते हैं? यदि नहीं तो फिर हम अपने लोगों से किस प्रकार की शैक्षिक श्रेष्ठता की उम्मीद रखते हैं? यहाँ वे उपभोक्तावाद के स्वरूप को तथा उसके अन्य सम्भावित स्रोतों को चर्चा में ले आते हैं जिनसे भारतीय परिचित हैं। इस प्रकार, आप देख सकते हैं कि हमारे यहाँ भी कई भारतीय चिन्तक और विद्वान हैं जिन्होंने इस सवाल पर बहुत गम्भीरता से काम किया है। उन्होंने ये सवाल उठाने की कोशिश की है कि (क) एक खास तरह की सत्ता व्यवस्था को वैधता देने के लिए हमारे समाज में एक अवधारणा के तौर पर मेरिट का इस्तेमाल किस तरह किया गया है? तथा (ख) अगर ऐसा नहीं है तो मेरिट के बारे में सोचने के अन्य रचनात्मक तरीके क्या हो सकते हैं?

? **विवेक वेलांकी:** जब हम मेरिट और आरक्षण की बात करते हैं तो सबसे ज्यादा एक ऐसी प्रतिस्पर्धी दौड़ का रूपक दिया जाता है जिसमें सभी एक लकीर से शुरू करते हैं। मगर आप जो कह रहे हैं, उससे ऐसा लगता है कि मेरिट और उसकी पेचीदगियों के बारे में बात करने के लिए यह रूपक ठीक नहीं है। अपने लेख में आपने लिखा है कि 'मेरा अपना आकलन यह है कि लगभग 80 प्रतिशत युवाओं को कक्षा 12 के बाद प्रतिस्पर्धी परिक्षाओं में बैठने का अवसर तक नहीं दिया जाता है' (मदान 2007, पृष्ठ 3046)। यानी आप यह कह रहे हैं कि यह दावा ही गलत है कि यह मुकाबला सबके लिए एक-जैसा है। क्या आप मेरी व्याख्या से सहमत हैं?

अमन मदान: बिलकुल सही कहा आपने। बल्कि मैं इस आँकड़े को थोड़ा बदलकर और ज्यादा कठोर तर्क देना चाहता हूँ। उस वक्त मेरा अन्दाज़ा 20 प्रतिशत था। अभी मैं 2009-2010 के एनएसएस डेटा का अध्ययन कर रहा हूँ। इसके आधार पर मैं देख रहा हूँ कि किसी भी तरह की उच्च शिक्षा या किसी तरह का डिप्लोमा कोर्स करने वाले, यानी स्कूल के बाद कोई भी पढ़ाई करने वाले लोगों की संख्या 2009-2010 में 9 प्रतिशत से भी कम थी। मैं 17-24 आयुवर्ग की बात कर रहा हूँ। यह 20 प्रतिशत जीईआर (ग्रॉस एनरोलमेंट रेशो) नहीं है जिसकी भारत सरकार बात कर रही है। वह आँकड़ा सारे आयु वर्गों के लिए है। तो, इस विश्लेषण से मुझे जो समझ में आ रहा है, वह यह है कि हमारे यहाँ 10 प्रतिशत से भी कम लोग इस स्थिति में हैं कि वे किसी भी प्रकार की उच्च शिक्षा तक पहुँच पाएँ, यानी स्कूल के बाद भी किसी तरह की पढ़ाई जारी रख पाएँ। याद रखें, ऐसा नहीं है कि बाकी 90 प्रतिशत लोगों के पास उच्च शिक्षा में जाने की बजाय

ज्यादा बेहतर विकल्प उपलब्ध हैं। असल में, उनकी यह अनुपस्थिति गहरी हताशा से पैदा होती है। यही बात पूरी स्थिति को निर्धारित कर रही है। यानी 90 प्रतिशत से ज्यादा भारतीयों के लिए चीज़ें इससे तय नहीं होतीं कि वे किन चीज़ों की चाहत रखते हैं बल्कि इस बात से तय होती है कि वे क्या नहीं कर सकते।

प्रसंगवश, उच्च शिक्षा में जा पाने वाले 10 प्रतिशत से भी कम लोग हैं, और उन लोगों में से भी ज्यादातर बहुत निम्न-स्तरीय उच्च शिक्षा तक ही पहुँच पाते हैं। यानी असल में हम मध्यवर्गीय नौकरियों में जाने वाले तबके के एक बहुत ही छोटे हिस्से के बारे में बात कर रहे हैं। मध्यमवर्ग कितना बड़ा है, यह एक अलग कहानी है। जो लोग मध्यमवर्ग का हिस्सा नहीं हैं, वे उससे बाहर इसलिए नहीं हैं क्योंकि उनके पास मेरिट का अभाव है, बल्कि वे हमारी सामाजिक संरचना के कारण उस वर्ग से बाहर हैं। यह सामाजिक संरचना उन्हें मेरिट अर्जित करने से रोक देती है, चाहे मेरिट की प्रचलित धारणा कुछ भी क्यों न हो। इस छोटे-से तबके में भी यह दौड़ बराबरी की और निष्पक्ष नहीं है। यह एक ऐसी दौड़ है जिसमें कुछ लोगों के पाँव बाँध दिए गए हैं, कुछ लोगों को पैरों का इस्तेमाल करने से रोक दिया गया है और फिर उनको चीख-चीखकर कहा जा रहा है : “दौड़ो, तुम सब तेज़ी-से दौड़ो।” और फिर इसे ‘निष्पक्ष दौड़’ का नाम दे दिया जाता है। अगर आप वाकई निष्पक्ष दौड़ चाहते हैं तो सबसे पहले हरेक को अच्छी और बराबर तालीम दीजिए। तब हम कहेंगे : “हाँ, अब ठीक है, अब यह दौड़ बराबरी की हुई।”

? **विवेक वेलांकी:** यानी पलड़ा पहले ही प्रभुत्वशाली समूहों के पक्ष में झुका हुआ है। अपने इसी विचार को विस्तार देते हुए आप लिखते हैं कि ‘मेरिट पर सवाल उठाने का मतलब है, व्यक्तिवाद पर सवाल उठाना, रोज़गार बाज़ार के न्याय पर शंका व्यक्त करना और उपभोक्तावाद की वैधता को चोट पहुँचाना’ (मदान 2007, पृष्ठ 3049)। मेरिट को इन सारी वृहत्तर सामाजिक प्रक्रियाओं से जोड़कर देखना बहुत ही पेचीदा सुझाव लगता है।

अमन मदान: इसमें कोई दिक्कत नहीं है कि ये तमाम नौजवान मेरिट की बात कर रहे हैं। वे ज़िन्दगी में जो कुछ पाना चाहते हैं, उसके लिए वैधता के साधन के तौर पर इसका सहारा ले रहे हैं। लिहाज़ा, जो भी व्यक्ति व्हाइट कॉलर नौकरियों में जाता है, खास तौर से इसलिए क्योंकि हमारे देश में इतनी भारी असमानता मौजूद है, उसे ऊपरी श्रेणी की व्हाइट कॉलर नौकरियों में ही वे चीज़ें मिल पाएँगी जो कुछ लोगों के लिए इस सारी मेहनत के बिना भी उपलब्ध हैं। मसलन, इलाज की सुविधा पाना, ऐसी

स्थिति में न फँसना जहाँ बीमार पड़ना परिवार को तबाह कर देने का सबब बन सकता हो।

ज़्यादातर लोगों के लिए व्हाइट कॉलर नौकरी बहुत मायने रखती है। और इसके साथ बहुत सारी अन्य सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ भी अस्तित्व में आ जाती हैं जो इस व्यवस्था को स्वीकार्यता प्रदान करती हैं और उसी पैकेज का हिस्सा होती हैं। यह सिर्फ एक आर्थिक नफे-नुकसान की बात नहीं है; यह एक सामाजिक लाभ है और एक खास तरह की जीवनशैली को चाहने के बोध का लाभ है। मेरिट को इन सारी चीज़ों की वैधता के साधन के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। लिहाज़ा, आप नौजवानों को यह सवाल पूछते पाते हैं कि अगर कोई चीज़ नैतिक धरातल पर इतनी सन्देहास्पद है तो उसके लिए वे इतनी मेहनत क्यों कर रहे हैं। इसके जवाब में आम तौर पर जो उत्तर मिलता है, मिसाल के तौर पर, वह वही है जो आमतौर पर मैं सिविल सर्विसेज़ की तैयारी में जुटे नौजवानों से अक्सर सुनता हूँ - यह देश की सेवा का मसला नहीं है बल्कि लाल बत्ती वाली सफेद एम्बैसडर कार पाने का मसला ज़्यादा है।

यह एक प्रतीकात्मक बात है। यह ताकत और ओहदे का प्रतीक है। या फिर आप लोगों को तीस हज़ार वाला मोबाइल फोन खरीदने के लिए जुटा दिखाई देंगे। इसके साथ भी कई तरह के अर्थ जुड़े हुए हैं। यानी लोग सिर्फ़ पैसे की कामना नहीं रखते, लोग एक आला जीवन शैली चाहते हैं। जैसा कि पिछले दिनों शिक्षा से जुड़े मेरे दो साथियों ने कहा था - स्कूल, शिक्षा और मेरिट ऐसी चीज़ें नहीं हैं जो केवल अपने बूते पर कोई अर्थ रखती हों। ये एक ज़्यादा वृहत्तर समाज का हिस्सा हैं जिसमें वर्ग और संस्कृति गहरे तौर पर आपस में गुँथे हुए हैं। और ये उन तर्कों को जायज़ ठहराने का तरीका बन जाते हैं जो लोग पेश कर रहे हैं।

? **विवेक वेलांकी:** आप काफी समय से समाजशास्त्र पढ़ा रहे हैं। आपने एक आईआईटी में भी पढ़ाया है जो कि कई मायनों में मेरिट की हिमायत का गढ़ रहा है। अब आप अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी में पढ़ा रहे हैं। मेरिट के बारे में पुनर्विचार के लिए आप क्या तरीके सुझाना चाहेंगे? अपने लेख (मदान, 2007) में आपने कहा है कि मेरिट पर पुनर्विचार करने के लिए हमें अध्यापक के बारे में और कक्षा के भीतर उसके व्यवहार और स्थिति के बारे में भी सोचना होगा। यह कैसे सम्भव है?

अमन मदान: बहुत सारी चीज़ें हैं जिन पर हमें पुनर्विचार करना चाहिए। आइए, मैं आपको एक छोटा-सा उदाहरण देता हूँ। मान लीजिए कि मैं



सामन्तवादी विश्व दृष्टिकोण के साथ और जातिगत पूर्वाग्रहों के आधार पर चलता हूँ। मैं मानता हूँ कि केवल ऐसे लोगों के पास ही मेरिट होती है। अब देखिए कि इसे विचारों की एक संरचना में और इस बात में तब्दील किया जा रहा है कि समाज को कैसे देखा जाना चाहिए, चीजें कैसे की जानी चाहिए। जब हम इस विचार संरचना को अपनी कक्षा में लेकर पहुँचते हैं तो एक ऐसी स्थिति पैदा होती है जहाँ अध्यापक केवल उनकी तरफ मुखातिब होता है जिनको वह होशियार बच्चे मानता है। यानी वह करीब 10 या 15 प्रतिशत बच्चों से बात कर रहा/रही होती है। उसके लिए बाकी बच्चे 'अन्य' हो जाते हैं - भले ही अन्यता का स्तर अलग-अलग हो। अध्यापक जो मेहनत करता है, वह उन्हीं चन्द बच्चों को ध्यान में रखकर करता है। आप चाहें तो इस तस्वीर को पलटकर भी देख सकते हैं। आप मेरिट की उस परिभाषा के आधार पर सोचना छोड़ भी सकते हैं जो बुनियादी तौर पर बेहद गैर-बराबरी भरे समाज की स्वीकार्यता पर आधारित है, जो एक जातिग्रस्त समाज या सोच पर आधारित है, जो इस मान्यता पर आधारित है कि विभिन्न समाजों में केवल कुछ लोगों के पास ही मेरिट होती है। ऐसे में, वैकल्पिक पोज़िशन यह हो सकती है - आप नहीं जानते

कि लोग कैसे आगे बढ़ेंगे, आपको नहीं मालूम कि उनमें किस तरह की क्षमताओं के फूल खिलेंगे। ऐसे में आप सबके साथ एक तरह से प्रयास करते हैं और नाना प्रकार से उन्हें प्रोत्साहन देते हैं क्योंकि आपको मालूम नहीं है कि कौन किस दिशा में और किस तरह बढ़ेगा, आपको मालूम नहीं है कि क्षमताओं का अन्तिम वितरण क्या होगा - क्या यह अभी 10 प्रतिशत ही रह जाएगा या इसकी तस्वीर बहुत भिन्न होगी। लिहाजा, शिक्षक प्रशिक्षण का एक हिस्सा वह है जिसमें अध्यापक को सिर्फ 10 प्रतिशत को ध्यान में रखकर नहीं बल्कि कक्षा के सबसे कमजोर विद्यार्थियों पर भी समान रूप से ध्यान देने के लिए प्रेरित और प्रशिक्षित किया जा रहा हो। मेरी निगाह में ऐसे बहुत सारे समूह हैं जो पहले ही इस दिशा में काम कर रहे हैं। बहुत सारे देशों में भी इस पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। अगर किसी को अध्यापक के अधिकतम प्रयास की आवश्यकता है तो सबसे पहले वह दावा सबसे कमजोर विद्यार्थियों का ही होना चाहिए।

कुछ समय पहले मैं तमिलनाडु में एक आदिवासी संगठन द्वारा चलाए जा रहे स्कूल के अध्यापकों से बात कर रहा था। मैंने उनसे पूछा : “आपके स्कूल और अन्य स्कूलों में क्या फर्क है?” उनका जवाब बहुत ही कमाल का था। एक के बाद एक सारे अध्यापकों ने मुझे एक ही बात बताई और यही बात फिर मुझे विद्यार्थियों से भी सुनने को मिली। उन्होंने कहा कि “हमारे स्कूल और दूसरे स्कूलों के बीच फर्क यह है कि यहाँ अगर किसी को कोई बात समझ में नहीं आती है तो अध्यापक फिर से उसे समझाते हैं; वे उन पर सबसे ज्यादा और सबसे पहले ध्यान देते हैं जो कोई चीज़ नहीं समझ पा रहे हैं।” फिर मैंने एक लड़की से बात की जो उस स्कूल से पढ़कर निकली थी। उसके बाद वह कहीं और पढ़ने गई और फिर लौटकर दोबारा संगठन से जुड़ गई। उसने मुझे बताया, “जब मैं दूसरे स्कूलों में पढ़ी तो लोगों का बर्ताव मेरे साथ अच्छा था। किसी ने मेरे साथ कोई भेदभाव नहीं किया और कइयों से मेरी दोस्ती भी हुई, मगर वहाँ एक बड़ा फर्क यह था कि अध्यापक यह सुनिश्चित करने की कोशिश ही नहीं करते थे कि सभी को सारी बातें समझ में आएँ। अध्यापक कुछ पढ़ाते थे और आगे बढ़ जाते थे।” यह जो फर्क है, इसके लिए हमें कई पहलुओं को अच्छी तरह समझना पड़ेगा। और मेरे ख्याल में यह मेरिट की अवधारणा का निषेध नहीं है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि मेरिट महत्वपूर्ण नहीं है। मेरिट बहुत महत्वपूर्ण है। एक ऐसा समाज जिसमें भूमिकाओं का बँटवारा जन्म की बजाय क्षमताओं के आधार पर हो, उसको साकार करना बहुत ही महत्वपूर्ण है, मगर हमें यह भी समझना होगा कि मैं इस मान्यता के आधार पर प्रस्थान

नहीं कर सकता कि सारी क्षमता सिर्फ 5 प्रतिशत लोगों के पास है। मुझे हर व्यक्ति पर ध्यान देना होगा और फिर यह देखना चाहिए कि किसके पास क्या क्षमता है। मुझे इस विश्वास से बाहर निकलना होगा कि आखिरकार सिर्फ 10 प्रतिशत लोग ही शिखर तक पहुँचेंगे। इसकी बजाय मुझे एक ऐसी संरचना पर ध्यान देना होगा जिसमें भूमिकाओं के वितरण की एक अलग व्यवस्था हो। यह एक अलग तरह का सवाल है। इसका मतलब यह है कि मैं किस तरह की अर्थव्यवस्था चाहता हूँ।

अमन मदान: अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं। उनके शोध विषय सामाजिक परतीकरण, शिक्षा एवं संगठन समाजशास्त्र तक विभिन्न प्रकार के विषयों तक फैले रहे हैं। वे *कंटेम्परेरी एजुकेशन डायलॉग* के सम्पादक मण्डल के सदस्य भी हैं।

सम्पर्क: amman.madan@apu.edu.in

विवेक वेलांकी: फिलहाल, मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी स्थित कॉलेज ऑफ एजुकेशन के करिक्युलम, इंस्ट्रक्शन एण्ड टीचर एजुकेशन विभाग से पीएच.डी. कर रहे हैं। जिस समय यह साक्षात्कार रिकॉर्ड किया गया था, उस समय वे रीजनल रिसोर्स सेंटर फॉर एलिमेंटरी एजुकेशन (आरआरसीईई), दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोजेक्ट ऑफिसर के पद पर काम कर रहे थे। अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक सुधार, आलोचनात्मक सिद्धान्त, जाति, नस्ल और जेंडर आदि सवाल उनके शोध का मुख्य विषय रहे हैं।

सम्पर्क: vivek.vellanki@gmail.com

अँग्रेज़ी से अनुवाद: योगेंद्र दत्त।

सभी चित्र: पूजा के. मैनन: *एकलव्य*, भोपाल में बतौर जूनियर ग्राफिक डिज़ाइनर काम कर रही हैं। जन्म पलक्कड़, केरल में हुआ लेकिन एक जगह से दूसरी जगह यात्रा करने के कारण बहुत-से नए लोगों से मिलना हुआ। चूँकि वे अन्यथा बातचीत करने में झिझकती थीं, स्केचिंग ने उनके विचारों को सम्प्रेषित करने और टिप्पणियों का दस्तावेज़ीकरण करने में एक माध्यम का काम किया। धीरे-धीरे रेखाचित्र कहानियों में बदल गए जिन्होंने उन्हें जीवन और लोगों को समझने और खुद को व्यक्त करने में मदद की।

यह साक्षात्कार *शिक्षा संवाद* संकलन से साभार। यह साक्षात्कार क्षेत्रीय प्रारम्भिक शिक्षा संसाधन केन्द्र (आरआरसीईई), दिल्ली यूनिवर्सिटी द्वारा डायलॉगिंग एजुकेशन शृंखला के तहत रिकॉर्ड किए गए साक्षात्कार का सम्पादित संस्करण है। इस संकलन के साक्षात्कारों को लिखित और ऑडियो माध्यमों में www.ircee.net पर भी देखा जा सकता है। सम्पादक - विवेक वेलांकी व पूनम बत्रा।

सन्दर्भ: Madan, A. (2007). Sociologising merit. *Economic and Political Weekly*, 42(29), 3044-3050.